११ (अ) संसारिणस्त्रसस्थावरा:। पृथिव्यम्बुवनस्पतय: स्थावरा। तेजोवायुद्वीन्द्रियादयश्च त्रसा:। — तत्त्वार्थसूत्र (भाष्यमान्य पाठ) ९/१२-१४

(ब) पृथिव्यप्तेजावायुवनस्पतय: स्थावरा:। — वही, सर्वार्थसिद्धिमान्य पाठ ९/१२

१२. तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि टीका ९/१२

१३. ति थावरतणुजोगा अपिलाणलकाइया य तेसु तसा। मण परिणाम विरहिदा जीवा एइंदिया णेया।। —१११

१४ (अ) से किं थावरा?, तिविहा पन्नत्ता, तंजहा-पुढविकाइया आउक्काइया वणस्सइकाइया।।

— जीवाभिगम प्रथम प्रतिपत्तिसूत्र १०

(ब) से किं तं तसा ? तिविहा पण्णत्ता, तंजहा - तेउक्काइया वाउक्काइया ओराला तसा पाणा।।

— वही, सूत्र २२

(स) गतित्रसेष्वन्तर्भावविवक्षणात, तेजोवायूनां लब्ध्या स्थावराणामपि सतां—टीका

१५ (अ). जस्स कम्मस्सुदएण जीवाणं संचरणासंचरणभावो होदि तं कम्मं तसणामं। जस्स कम्मस्सुदएण जीवाणं थावरत्तं होदि तं कम्मं थावरं णामं। आउ-तेउ-वाउकाइयाणं संचरणोवलंभादो ण तसत्तमत्थि, तेसिं गमणपरिणामस्स पारिणामियत्तादो।

— षट्खण्डागम ५/५/१०१, खण्ड ५, भाग १,२,३, पुस्तक १३, पृ. ३६५

(ब). जस्स कम्मस्स उदएण जीवाणं तसत्तं होदि, तस्स कम्मस्स तसेत्ति सण्णां, कारणे कज्जुवयारादो। जदि तसणामकममं ण होज्ज, तो बीइंदियादीणमभावो होज्ज। ण च एवं, तेसिमुबलंभा। जस्स कम्मस्स उदएण जीवों थावरत्तं पडिवज्जदि तम्स कम्मस्स थावरसण्णा।

— षट्खण्डागम १/९-१/२८, खण्ड १, भाग १, पुस्तक ६, पृ. ६१

(स). एते त्रसनामकर्मोदयवशवर्तित:। के पुन: स्थावरा: इति चेत्? एकेन्द्रिया: कथमनुक्तमवगम्यते चेत्परिशेषात स्थावरकर्मण: किं कार्यमिति चेदेकस्थानावस्थापकत्वम तेजोवाय्वप्कायिकानां चलनात्मकानां तथा सत्यस्थावरत्वं स्यादिति चेन्न, स्थास्नूनां प्रयोगतश्चलच्छिन्नपर्णानामिव गतिपर्यायपरिणतसमीरणाव्यतिरिक्तशरीरत्वतस्तेषां गमनाविरोधात

— षट्खण्डागम, धवलाटीका १/१/४४, पृ. २७७

१६. अथ व्यवहारेणाग्निवातकायिकानां त्रसत्वं दर्शयति— पृथिव्यब्वनस्पतयस्त्रय: स्थावरकायगोगात्सम्बन्धात्स्थावरा भण्यंते अनलानिलकायिका: तेषु पंच स्थावरेषु मध्ये चलन क्रियां दृष्ट्वा व्यवहारेण त्रसाभण्यंते।

— पंचास्तिकाय: जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति:, गाथा १११ की टीका

जैनदर्शन में पुद्गल और परमाणु

पुद्गल को भी अस्तिकाय द्रव्य माना गया है। यह मूर्त और अचेतन द्रव्य है। पुद्गल का लक्षण शब्द, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि माना जाता है। इसके अतिरिक्त जैन आचार्यों ने हल्कापन, भारीपन, प्रकाश, अंधकार, छाया, आतप, शब्द, बन्ध-सामर्थ्य, सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व, संस्थान, भेद, आदि को भी पुद्गल का लक्षण माना है (उत्तराध्ययन २८/१२७ एवं तत्त्वार्थ ५/२३-२४)। जहाँ धर्म, अधर्म और आकाश एक द्रव्य माने गये हैं वहाँ पुद्गल अनेक द्रव्य है। जैन आचार्यों ने प्रत्येक परमाणु को एक स्वतन्त्र द्रव्य या इकाई माना है। वस्तुत: पुद्गल द्रव्य समस्त दृश्य जगत् का मूलभूत घटक हैं।

ज्ञातव्य है कि बौद्धदर्शन में और भगवती जैसे आगमों के प्राचीन अंशों में पुद्गल शब्द का प्रयोग जीव या चेतन तत्त्व के लिए भी हुआ है, किन्तु इसे पौद्गलिक शरीर की अपेक्षा से ही जानना चाहिए। यद्यपि बौद्ध परम्परा में तो पुद्गल-प्रज्ञप्ति (पुग्गल पञ्ञति) नामक एक ग्रन्थ ही है, जो जीव के प्रकारों आदि की चर्चा करता है। फिर भी जीवों के लिए पुद्गल शब्द का प्रयोग मुख्यत: शरीर की अपेक्षा से ही देखा जाता है। परवर्ती जैन दार्शनिकों ने तो पुद्गल शब्द का प्रयोग स्पष्टत: भौतिक तत्त्व के लिए ही किया है, और उसे ही दृश्य जगत् का कारण माना है। क्योंकि जैन दर्शन में पुद्गल ही ऐसा तत्त्व है, जिसे मूर्त या इन्द्रियों की अनुभूति का विषय कहा गया है। वस्तुत: पुद्गल के उपरोक्त गुण ही उसे हमारी इन्द्रियों के अनुभूति का विषय बनाते है।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है जैन दर्शन में प्राणीय शरीर यहाँ तक पृथ्वी, जल, अग्नि और वनस्पति का शरीर रूप दृश्य स्वरूप भी पुद्गल की ही निर्मिति है। विश्व में जो कुछ भी मूर्तिमान या इन्द्रिय-अनुभूति का विषय है, वह सब पुद्गल का खेल है। इस सम्बन्ध में विशेष ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि जहाँ जैन दर्शन में पृथ्वीं, जल, अग्नि और वायु- इन चारों को शरीर अपेक्षा पुद्गल रूप मानने के कारण इनमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण- ये चारों गुण माने गये है। जबकि वैशेषिक आदि दर्शन मात्र पृथ्वी को ही उपर्युक्त चारों गुणों से युक्त मानते हैं वे जल को गन्ध रहित त्रिगुण, तेज को गन्ध और रस रहित मात्र द्विगुण और वायु को मात्र एक स्पर्शगुण वाला मानते हैं। यहाँ एक विशेष तथ्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह भी है जहाँ अन्य दार्शनिकों ने शब्द को आकाश का गुण माना है, वहाँ जैन दार्शनिकों ने शब्द को पुद्गल का ही गुण माना है। उनके अनुसार आकाश का गुण तो मात्र अवगाह अर्थात् स्थान देना है।

यह दृश्य जगत् पुद्गल के ही विभिन्न संयोगों का विस्तार हैं अनेक पुद्गल परमाणु मिलकर स्कंध की रचना करते हैं और स्कंधों से ही मिलकर दृश्य जगत् की सभी वस्तुयें निर्मित होती हैं। नवीन स्कंधों के निर्माण और पूर्व निर्मित स्कन्धों के संगठन और विघटन की प्रक्रिया के माध्यम से ही दृश्य जगत् में परिवर्तन घटित होते हैं और विभिन्न वस्तुएँ और पदार्थ अस्त्वि में आते हैं।

जैन आचार्यों ने पुद्गल को स्कंध और परमाणु इन दो रूपों में विवेचित किया है। विभिन्न परमाणुओं के संयोग से ही स्कंध बनता हैं। फिर भी इतना स्पष्ट है कि पुद्गल द्रव्य का अंतिम घटक तो परमाणु ही है। उसमें स्वभाव से एक रस, एक वर्ण, एक गंध और शीत-उष्ण या स्निग्ध-रुक्ष में से कोई दो स्पर्श पाये जाते है।

जैन आगमों में वर्ण पाँच माने गये हैं- लाल, पीला, नीला, सफेद और काला; गंध दो हैं-सुगन्ध और दुर्गन्ध; रस पाँच हैं- तिक्त, कटु, कसैला, खट्टा और मीठा और इसी प्रकार स्पर्श आठ माने गये हैं- शीत और उष्ण, स्निग्ध और रुक्ष, मृदु और कर्कश तथा हल्का और भारी।

इस प्रकार जैनदर्शन में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श गुणों के बीच भेद माने गये है। पुन: जैन दर्शन इनमें प्रत्येक में भी उनकी तरतमता (डिग्री या मात्रा) के आधार पर भेद करता है। उदाहरण के रूप में वर्ण में लाल, काला आदि वर्ण है किन्तु इनमें भी लालिमा और कालिमा के हल्के, तेज आदि अनेक स्तर देखे जाते है। लाल वर्ण एक गुण (डिग्री) लाल से लगाकर संख्यात, असंख्यात और अनन्तगुण लाल हो सकता है। यही स्थिति काले आदि अन्य वर्णों की भी होगी। इसी प्रकार रस में खट्टा, मीठा आदि रस भी एक ही प्रकार के नहीं होते है, उनमें भी तरतमता होती है। मीठास, खटास या सुगन्ध-दुर्गन्ध आदि के अनेकानेक स्तर है। यही स्थिति उष्ण आदि स्पर्शों की है, जैन दार्शनिकों के अनुसार उष्मा भी एकगुण (एक डिग्री) से लेकर संख्यात् असंख्यात् या अनन्त गुण (डिग्री) की हो सकती है। इस प्रकार जैन दार्शनिकों ने वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श में प्रत्येक के न केवल अवान्तर भेद किये है, अपितु तरतमता या डिग्री के आधार पर अनन्त भेद माने हैं। उनका यह दृष्टिकोण आज भी विज्ञान सम्मत है।

जैन दार्शनिकों के अनुसार शब्द भाषावर्गणा के पुद्गलों का एक विशिष्ट प्रकार का परिणाम है। निमित्त-भेद से उसके अनेक भेद माने जाते हैं। जो शब्द जीव के प्रयत्न से उत्पन्न होता है वह प्रायोगिक है और जो किसी के प्रयत्न के बिना ही उत्पन्न होता हैं वैस्रसिक है, जैसे बादलों का गर्जन। प्रायोगिक शब्द के मुख्यत: निम्न छह प्रकार है- १. भाषा—मनुष्य आदि की व्यक्त और पशु, पक्षी आदि की अव्यक्त ऐसी अनेकविध भाषाएँ; २. तत—चमड़े से लपेटे हुए वाद्यों अर्थात् मृदंग, पटह आदि का शब्द; ३. वितत—तारवाले वीणा, सारंगी आदि वाद्यों का शब्द; ४. घन—झालर, घंट आदि का शब्द; ५. शषिर—फूँककर बजाये जानेवाले शंख, बाँसुरी आदि का शब्द और ६. संघर्ष—दो वस्तुओं के घर्षण से उत्पन्न किया गया शब्द।

इस प्रकार परस्पर आश्लेष रूप बन्ध के भी प्रायोगिक और वैस्रसिक- ये दो भेद हैं। जीव और शरीर का बन्ध तथा लाख आदि से जोड़कर बनाई गई वस्तुओं का बन्ध प्रयत्नसापेक्ष होने से प्रायोगिक बन्ध है। बिजली, मेघ, इन्द्रधनुष आदि का बन्ध प्रयत्न-निरपेक्ष पौद्गलिक संश्लेष वैस्रसिक बन्ध है।

सूक्ष्मत्व और स्थूलत्व के भी अन्त्य तथा आपेक्षिक होने से ये दो-दो भेद हैं। जो सूक्ष्मत्व तथा स्थूलत्व दोनों एक ही वस्तु में अपेक्षा-भेद से घटित न हों, वे अन्त्य कहे जाते है और जो घटित हों वे आपेक्षिक कहे जाते हैं। परमाणुओं का सूक्ष्मत्व और जगत्-व्यापी महास्कन्ध का स्थूलत्व अन्त्य है, क्योंकि अन्य पुद्गल की अपेक्षा परमाणुओं में स्थूलत्व और महास्कन्ध में सूक्ष्मत्व घटित नहीं होता। द्व्यणुक आदि मध्यवर्ती स्कन्धों के स्थूलत्व व स्थूलत्व दोनों आपेक्षिक हैं, जैसे आँवले का सूक्ष्मत्व और बिल्व का स्थूलत्व है सापेक्षिक, आँवला बिल्व की अपेक्षा छोटा है, अत: सूक्ष्म है और बिल्व आँवले की अपेक्षा बड़ा है, अत: स्थूल है। परन्तु वही आँवला बेर की अपेक्षास्थूल है और वही बिल्व कूष्माण्ड की अपेक्षा सूक्ष्म है। प्रकार जैसे आपेक्षिक होने से एक ही वस्तु में सूक्ष्मत्व-स्थूलत्व दोनों विरुद्ध गुण-धर्म होते हैं, किन्तु अन्त्य सूक्ष्मत्व और स्थूलत्व एक वस्तु में एक ही साथ नहीं होते हैं।

संस्थान इत्थंत्व और अनित्थत्व दो प्रकार का है। जिस आकार की किसी के साथ तुलना की जा सके वह इत्थंत्वरूप है और जिसकी तुलना न की जा सके वह अनित्थंत्वरूप है। मेघ आदि का संस्थान (रचना-विशेष) अनित्थंत्वरूप है, क्योंकि अनियत होने से किसी एक प्रकार से उसका निरूपण नहीं किया जा सकता। जबकि अन्य पदार्थों का संस्थान इत्थंत्वरूप है, जैसे गेंद, सिंघाड़ा आदि। गोल, त्रिकोण, चतुष्कोण, दीर्घ, पारिमण्डल (वलयाकार) आदि रूप में इत्थंत्व रूप संस्थान के अनेक भेद हैं।

स्कन्धरूप में परिणत पुद्गलपिण्ड का विश्लेष (विभाग) होना भेद है। इसके पाँच प्रकार हैं-१. औत्करिक-चीरे या खोदे जाने पर होने वाला लकड़ी, पत्थर आदि के बड़े टुकण्डे २. चौर्णिक-कण-कण रूप में चूर्ण हो जाना, जैसे गेहूँ, जौ आदि का आटा ३. खण्ड-टुकड़े-टुकड़े होकर टूट जाना, जैसे घड़े के कपालादि; ४. प्रतर-परतें यह तहें निकलना, जैसे भोजपत्र आदि; ५. अनुतट- छाल निकलना, जैसे बाँस, ईख आदि।

तम अर्थात् अन्धकार, देखने में रुकावट डालनेवाला, प्रकाश का विरोधी एक परिणाम-विशेष है।

छाया प्रकाश के ऊपर आवरण आ जाने से होती है। इसके दो प्रकार हैं-दर्पण आदि स्वच्छ पदार्थों में पड़नेवाला मुखादि का प्रतिबिम्ब, ज्यों-का-त्यों दिखाई देता है और अन्य अस्वच्छ वस्तुओं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर पड़नेवाली परछाई प्रतिबिम्बरूप छाया है। सूर्य आदि का उष्ण प्रकाश आतप और चन्द्र, मणि, खद्योत आदि का अनुष्ण (शीतल) प्रकाश उद्योत है।

स्पर्श, वर्ण गन्ध, रस, शब्द आदि सभी पर्यायें पुद्गल के कार्य होने से पौद्गलिक मानी जाती हैं। (तत्त्वार्थसूत्र पं० सुखलाल जी पृ०१२९-३०)।

ज्ञातव्य है कि परमाणुओं में मृदु, कर्कश, हल्का और भारी चार स्पर्श नहीं हाते हैं। ये चार स्पर्श तभी संभव होते हैं जब परमाणुओं से स्कंधों की रचना होती है और तभी उनमें मृदु, कठोर, हल्के और भारी गुण भी प्रकट हो जाते हैं। परमाणु एक प्रदेशी होता है जबकि स्कंध में दो या दो से अधिक असंख्य प्रदेश भी हो सकते हैं। स्कंध, स्कंध-देश, स्कंध-प्रदेश और परमाणु ये चार पुद्गल द्रव्य के विभाग हैं। इनमें परमाणु निरवयव है। आगम में उसे आदि, मध्य और अन्त से रहित बताया गया है जबकि स्कंध में आदि और अन्त होते हैं। न केवल भौतिक वस्तुएँ अपितु शरीर, इन्द्रियाँ और मन भी स्कंधों का ही खेल हैं।

स्कंधों के प्रकार

जैन दर्शन में स्कंध के निम्न ६ प्रकार माने गये हैं—

१. **स्थूल-स्थूल** इस वर्ग के अन्तर्गत विश्व के समस्त ठोस पदार्थ आते हैं। इस वर्ग के स्कंधों की विशेषता यह है कि वे छिन्न-भिन्न होने पर मिलने में असमर्थ होते हैं, जैसे-पत्थर।

२. **स्थूल**-जो स्कंध छिन्न-भिन्न होने पर स्वयं आपस में मिल जाते हैं वे स्थूल स्कंध कहे जाते है। इसके अन्तर्गत विश्व के तरल द्रव्य आते हैं, जैसे-पानी, तेल आदि।

३. **स्थूल-सूक्ष्म**-जो पुद्गल स्कंन्ध छिन्न-भिन्न नहीं किये जा सकते हों अथवा जिनका ग्रहण या लाना ले जाना संभव नहीं हो किन्तु जो चक्षु इन्द्रिय के अनुभूति के विषय हों वे स्थूल-सूक्ष्म या बादर-सूक्ष्म कहे जाते हैं, जैसे-प्रकाश, छाया, अन्धकार आदि।

४. **सूक्ष्म-स्थूल**- जो विषय दिखाई नहीं देते हैं किन्तु हमारी ऐन्द्रिक अनुभूति के विषय बनते हैं, जैसे- सुगन्ध, शब्द आदि। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से विद्युत् धारा का प्रवाह और अदृश्य किन्तु अनुभूत गैस भी इस वर्ग के अन्तर्गत आती हैं। जैन आचार्यों ने ध्वनि, तरंग आदि को भी इसी वर्ग के अन्तर्गत माना है। वर्तमान युग में इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों द्वारा चित्र आदि का सम्प्रेषण किया जाता है, उसे भी हम इसी वर्ग के अन्तर्गत रख सकते हैं।

५. **सूक्ष्म**- जो स्कंध इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं किये जा सकते हों वे इस वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। जैनाचार्यों ने कर्मवर्गणा, जो जीवों के बंधन का कारण है, मनोवर्गणा भाषावर्गणा आदि को इसी वर्ग में माना है।

६. **अति सूक्ष्म**- द्वयणुक आदि अत्यन्त छोट स्कंध अति सूक्ष्म माने गये हैं।

स्कंध के निर्माण की प्रक्रिया

स्कंध की रचना दो प्रकार से होती है- एक ओर बड़े-बड़े स्कंधों के टूटने से या छोटे-छोटे स्कंधों के संयोग से नवीन स्कंध बनते हैं तो दूसरी ओर परमाणुओं में निहित स्वाभाविक स्निग्धता और रुक्षता के कारण परस्पर बंध होता है, जिससे भी स्कंधों की रचना होती है। इसलिए यह कहा गया है कि संघात और भेद से स्कंध की रचना होती है (संघातभेदेभ्य:उत्पद्यन्ते -तत्त्वार्थ ५/२६)। संघात का तात्पर्य *एकत्रित होना और भेद का तात्पर्य टूटना है। किस प्रकार के परमाणुओं* के परस्पर मिलने से स्कंध आदि की रचना होती है- 'इस प्रश्न पर भी जैनाचार्यों ने विस्तृत चर्चा की है।

पौद्गलिक स्कन्ध की उत्पत्ति मात्र उसके अवयवभूत परमाणुओं के पारस्परिक संयोग से नहीं होती है। इसके लिए उनकी कुछ विशिष्ट योग्यताएं भी अपेक्षित होती है। पारस्परिक संयोग के लिए उनमें स्निग्धत्व (चिकनापन), रूक्षत्व (रूखापन) आदि गुणों का होना भी आवश्यक है। जब स्निग्ध और रूक्ष परमाणु या स्कन्ध आपस में मिलते हैं तब उनका *बन्ध (एकत्वपरिणम) होता है, इसी बन्ध से द्वयणुक आदि स्कन्ध* बनते हैं।

स्निग्ध और रूक्ष परमाणुओं या स्कन्धों का संयोग सदृश और विसदृश दो प्रकार का होता है। स्निग्ध का स्निग्ध के साथ और रूक्ष का रूक्ष के साथ बन्ध सदृश बन्ध है। स्निग्ध का रूक्ष के साथ बन्ध विसदृश बन्ध है।

तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार जिन परमाणुओं में स्निग्धत्व या रूक्षत्व का अँश जघन्य अर्थात् न्यूनतम हो उन जघन्य गुण (डिग्री) वाले परमाणुओं का पारस्परिक बन्ध नहीं होता है। इस से यह भी फलित होता है कि मध्यम और उत्कृष्टसंख्यक अंशोंवाले स्निग्ध एवं रूक्ष सभी परमाणुओं या स्कन्धों का पारस्परिक बन्ध हो सकता है। परन्तु इसमें भी अपवाद है तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार समान अंशोंवाले स्निग्ध तथा रूक्ष परमाणुओं का स्कन्ध नहीं बनता। इस निषेध का फलित अर्थ यह भी है कि असमान गुणवाले सदृश अवयवी स्कन्धों का बन्ध होता है। इस फलित अर्थ का संकोच करके तत्त्वार्थसूत्र (५/३५) में सदृश असमान अंशों की बन्धोपयोगी मर्यादा नियत की गई है। तदनुसार असमान अंशवाले सदृश अवयवों में भी जब एक अवयव का स्निग्धत्व या रूक्षत्व दो अंश, तीन अंश, चार अंश आदि अधिक हो तभी उन दो सदृश अवयवों का बन्ध होता है। इसलिए यदि एक अवयव के स्निग्धत्व या रूक्षत्व की अपेक्षा दूसरे अवयव का स्निग्धत्व या रूक्षत्व केवल एक अंश अधिक हो तो भी उन दो सदृश अवयवों का बन्ध नहीं होता है। उनमें कम से कम दो या दो से अधिक गुणों का अंतर होना चाहिये। पं. सुखलाल जी लिखते है-

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में बन्ध सम्बन्धी प्रस्तुत तीनों सूत्रों में पाठभेद नहीं है, पर अर्थभेद अवश्य है। अर्थभेद की दृष्टि से ये तीन बातें ध्यान देने योग्य है—

१. जघन्यगुण परमाणु एक अंशवाला हो, तब बन्ध का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होना या न होना, २. 'आदि' पद से तीन आदि अंश लिए जाय या नहीं, और ३. बन्धविधान केवल सदृश अवयवों के लिए माना जाय अथवा नहीं।

इस सम्बन्ध में पंडित जी आगे लिखते हैं—

१. तत्त्वार्थभाष्य और सिद्धसेनगणि की उसकी वृत्ति के अनुसार दोनों परमाणु जब जघन्य गुणवाले हों तभी उनके बन्ध का निषेध है, अर्थात् एक परमाणु जघन्यगुण हो और दूसरा जघन्यगुण न हो तभी उनका बन्ध होता है। परन्तु सर्वार्थसिद्धि आदि सभी दिगम्बर व्याख्याओं के अनुसार एक जघन्यगुण परमाणु का दूसरे अजघन्यगुण परमाणु के साथ भी बन्ध नहीं होता।

२. तत्त्वार्थभाष्य और उसकी वृत्ति के अनुसार सूत्र ३५ के 'आदि' पद का तीन आदि अंश अर्थ लिया जाता है। अतएव उसमें किसी एक परमाणु से दूसरे परमाणु में स्निग्धत्व या रूक्षत्व के अंश दो, तीन, चार तथा बढ़ते-बढ़ते संख्यात, असंख्यात अनन्त अधिक होने पर भी बन्ध माना जाता है; केवल एक अंश अधिक होने पर ही बन्ध नहीं माना जाता है। परन्तु सभी दिगम्बर व्याख्याओं के अनुसार केवल दो अंश अधिक होने पर ही बन्ध माना जाता है, अर्थात् एक अंश की तरह तीन, चार संख्यात, असंख्यात, अनन्त अंश अधिक होने पर बन्ध नहीं माना जाता।

३. भाष्य और वृत्ति के अनुसार दो, तीन आदि अंशों के अधिक होने पर बन्ध का विधान सदृश अवयवों पर ही लागू होता है, विसदृश पर नहीं। परन्तु दिगम्बर व्याख्याओं में वह विधान सदृश की भाँति विसदृश परमाणुओं के बन्ध पर भी लागू होता है।

इस अर्थभेद के कारण दोनों परम्पराओं में बन्ध विषयक जो विधि-निषेध फलित होता है वह इस प्रकार है—

भाष्य-वृत्त्यनुसार

	गुण-अंश	सदृश	विसदृश
१.	जघन्य+जघन्य	नहीं	नहीं
२.	जघन्य+एकाधिक	नहीं	है
३.	जघन्य+द्व्यधिक	है	है
४.	जघन्य+त्र्यादि अधिक है	है	है
५.	जघन्येतर+सम जघन्येतर	नहीं	है
६.	जघन्येतर+एकाधिक जघन्येतर	नहीं	है
७.	जघन्येतर+द्व्यधिक जघन्येतर	है	है
८.	जघन्येतर+त्र्यादि अधिक जघन्येतर	है	है

सर्वार्थसिद्धि आदि दिगम्बर व्याख्या-ग्रन्थां के अनुसार

	गुण-अंश	सदृश	विसदृश
१.	जघन्य+जघन्य	नहीं	नहीं
२.	जघन्य+एकाधिक	नहीं	नहीं
३.	जघन्य+द्व्यधिक	नहीं	नहीं
४.	जघन्य+त्र्यादि अधिक	नहीं	नहीं
५.	जघन्येतर+सम जघन्येतर	नहीं	नहीं
६.	जघन्येतर+एकाधिक जघन्येतर	नहीं	नहीं
७.	जघन्येतर+द्व्यधिक जघन्येतर	है	है
८.	जघन्यतेर+त्र्यादि अधिक जघन्येतर	नहीं	नहीं

इस बन्ध-विधान को स्पष्ट करते हुए अपनी तत्त्वार्थसूत्र की व्याख्या में पं. सुखलालजी लिखते है कि स्निग्धत्व और रूक्षत्व दोनों स्पर्श-विशेष हैं। ये अपनी-अपनी जाति की अपेक्षा एक-एक रूप होने पर भी परिणमन की तरतमता के कारण अनेक प्रकार के होते हैं। तरतमता यहाँ तक होती है कि निकृष्ट स्निग्धत्व और निकृष्ट रूक्षत्व तथा उत्कृष्ट स्निग्धत्व और उत्कृष्ट रूक्षत्व के बीच अनन्तानन्त अंशों का अन्तर रहता है, जैसे बकरी और ऊँटनी के दूध के स्निग्धत्व में। स्निग्धत्व दोनों में ही होता है परन्तु एक में अत्यल्प होता है और दूसरे में अत्यधिक। तरतमतावाले स्निग्धत्व और रूक्षत्व परिणामों में जो परिणाम सबसे निकृष्ट अर्थात् अविभाज्य हो उसे जघन्य अंश कहते हैं। जघन्य को छोड़कर शेष सभी जघन्येतर कहे जाते हैं। जघन्येतर में मध्यम और उत्कृष्ट संख्या आ जाती है। सबसे अधिक स्निग्धत्व परिणाम उत्कृष्ट है और जघन्य तथा उत्कृष्ट के बीच के सभी परिणाम मध्यम हैं। जघन्य स्निग्धत्व की अपेक्षा उत्कृष्ट स्निग्धत्व अनन्तानन्त गुना अधिक होने से यदि जघन्य स्निग्धत्व को एक अंश कहा जाय तो उत्कृष्ट स्निग्धत्व को अनन्तानन्त अंशपरिमित मानना चाहिए। दो, तीन यावत् संख्यात, असंख्यात और अनन्त से एक कम उत्कृष्ट तक के सभी अंश मध्यम हैं।

यहाँ सदृश का अर्थ है स्निग्ध का स्निग्ध के साथ या रूक्ष का रूक्ष के साथ बन्ध होना और विसदृश का अर्थ है स्निग्ध का रूक्ष के साथ बन्ध होना। एक अंश जघन्य है और उससे एक अधिक अर्थात् दो अंश एकाधिक हैं। दो अंश अधिक हों तब द्व्यधिक और तीन अंश अधिक हों तब त्र्याधिक। इसी तरह चार अंश अधिक होने पर चतुरधिक यावत् अनन्तानन्त-अधिक कहलाता है। सम अर्थात् दोनों ओर अंशों की संख्या समान हो तब वह सम है। दो अंश जघन्येतर का सम जघन्येतर दो अंश हैं, दो अंश जघन्येतर का एकाधिक जघन्येतर तीन अंश हैं, दो अंश जघन्येतर का द्व्यधिक जघन्येतर चार अंश हैं, दो अंश जघन्येतर का त्र्याधिक जघन्येतर पाँच अंश हैं और चतुरधिक जघन्येतर छः अंश हैं। इसी प्रकार तीन आदि से अनन्तांश जघन्येतर तक के सम, एकाधिक, द्व्यधिक और त्र्यादि जघन्येतर होते हैं।

यहाँ यह भी बात ध्यान देने योग्य है कि समांश स्थल में सदृश बन्ध तो होता ही नहीं, विसदृश होता है, जैसे दो अंश स्निग्ध का दो अंश रूक्ष के साथ या तीन अंश स्निग्ध का तीन अंश रूक्ष के साथ। ऐसे स्थल में कोई एक सम दूसरे सम को अपने रूप में परिणत कर लेता है अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार कभी स्निग्धत्व रूक्षत्व को स्निग्धत्व में बदल देता है और कभी रूक्षत्व स्निग्धत्व को रूक्षत्व में बदल देता है। परन्तु अधिकाशं स्थल में अधिकांश ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हीनांश को अपने स्वरूप में बदल सकता है, जैसे पंचांश स्निग्धत्व तीन अंश स्निग्धत्व को अपने रूप में परिणत करता है अर्थात् तीन अंश स्निग्धत्व भी पाँच अंश स्निग्धत्व के सम्बन्ध से पाँच अंश परिणत हो जाता है। इसी प्रकार पाँच अंश स्निग्धत्व तीन अंश रूक्षत्व को भी स्व-स्वरूप में मिला लेता है अर्थात् रूक्षत्व स्निग्धत्व में बदल जाता है। रूक्षत्व अधिक हो तो वह अपने से कम स्निग्धत्व को अपने रूप का बना लेता है। मेरे विचार में यहाँ यह भी सम्भव है कि दोनों के मिलन से अंशो की अपेक्ष कोई तीसरी अवस्था भी बन सकती है।

जैन दर्शन में परमाणु

जैन दर्शन में परमाणु को पुद्गल का सबसे छोटा अविभागी अंश माना गया है। यथा 'जंदव्वं अविभागी तं परमाणु वियाणेहि'[२] अर्थात् जो द्रव्य अविभागी है उसको निश्चय से परमाणु जानो। इसी तरह की परिभाषा डेमोक्रिटस ने भी दी है जिसका उल्लेख पूर्व में कर आये हैं। परमाणु का लक्षण स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं-

अंतादि अंतमज्झं अंततं णेव इंदिए गेज्झं।
जं अविभागी दव्वं तं परमाणुं पसंसंति।।

-नियमसार २९

अर्थात् परमाणु का वही आदि, वही अंत तथा वही मध्य होता है। वह इंद्रियग्राह्य नहीं होता। वह सर्वथा अविभागी है-उसके टुकड़े नहीं किये जा सकते। ऐसे अविभागी द्रव्य को परमाणु कहते हैं। परमाणु सत् है अत: अविनाशी है। साथ ही उत्पाद व्यय धर्मा अर्थात् रासायनिक स्वभाव वाला भी है। इस तथ्य को वैज्ञानिकों ने भी माना है। वे भी परमाणु को रासायनिक परिवर्तन क्रिया में भाग लेने योग्य परिणमनशील मानते हैं। परमाणु जब अकेला-असम्बद्ध होता है तब उसमें प्रतिक्षण स्वाभावानुकूल पर्यायें या अवस्थाएं होती रहती हैं तथा जब वह अन्य परमाणु से सम्बद्ध होकर स्कंध की दशा रूप में होता है तब उसमें विभाव या स्वभावेतर पर्यायें भी द्रवित होती रहती हैं। इसी कारण ही उसे द्रव्य कहा जाता है। द्रव्य का व्युत्पत्ति सभ्य अर्थ यही है कि जो द्रवित अर्थात् परिवर्तित हो। परमाणु भी इसका अपवाद नहीं है।

परमाणु की उत्पत्तिः

यहां परमाणु की उत्पत्ति का तात्पर्य उसका अस्तित्व में आने से नहीं, क्योंकि परमाणु सत् स्वरूप है। सत् की न तो उत्पत्ति होती है और नाश। सत् तो सदाकाल अनादि- अनंत अस्तित्व वाला होता है, अत: परमाणु का अस्तित्व भी अनादि-अनंत है, अत: वह अविनाशी है। यहां परमाणु की उत्पत्ति का तात्पर्य मिले हुए परमाणुओं के समूह से रूप स्कंधों से विखण्डित होकर परमाणु के आविर्भाव हैं। वस्तुत: परमाणुओं से स्कन्ध और स्कन्ध से परमाणु अर्विभूत होते रहते है। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार 'भेदादणु:[१] अर्थात् भेद से अणु प्रगट होता है, किन्तु यह भेद की प्रक्रिया तब तक होनी चाहिए जब पुद्गल स्कंध एक प्रदेशी अंतिम इकाई के रुप में अविभाज्य न हो जाये। यह अविभाज्य परमाणु किसी भी इंद्रिय या अणुवीक्षण यंत्रादि से भी ग्राह्य (दृष्टिगोचर) नहीं होता है। जैन दर्शन में इसे केवल सर्वज्ञ के ज्ञान का विषय माना गया है। इस तथ्य की पुष्टि करते हुए प्रोफेसर जान पिल्ले लिखते है:- वैज्ञानिक पहले अणु को ही पुद्गल का सबसे छोटा, अभेद्य अंश मानते थे, परन्तु जब उसके भी विभाग होने लगे, तो उन्होंने अपनी धारणा बदल दी और अणु को मालीक्यूल अर्थात् सूक्ष्म स्कन्ध नाम दिया तथा परमाणु को एटम नाम दिया। किन्तु अब तो परमाणु के भी न्यूट्रान, प्रोटान और इलेक्ट्रान जैसे भेद कर दिये गये हैं, जिससे सिद्ध होता है कि आधुनिक वैज्ञानिकों का परमाणु अविभागी नहीं है। जैन दर्शन तो ऐसे परमाणु को भी सूक्ष्म स्कन्ध ही कहता है। पुद्गल के समान परमाणु में भी वर्ण, रस, गंध, स्पर्श के गुण माने गये है फिर भी यह ज्ञातव्य है कि प्रत्येक परमाणु में कोई एक वर्ण, एक गंध, एक रस और मात्र दो स्पर्श शीत और उष्ण में कोई एक तथा स्निग्ध और रूक्ष में से कोई एक-पाये जाते है।

जैनाचार्यों की यह विशेषता रही है कि उन्होंने शब्द, अंधकार, प्रकाश, छाया, गर्मी आदि को पुद्गल द्रव्य का ही पर्याय माना है। इस दृष्टि से जैन दर्शन का पुद्गल विचार आधुनिक विज्ञान के बहुत अधिक निकट है।

जैन दर्शन की ही ऐसी अनेक मान्यतायें हैं, जो कुछ वर्षों तक अवैज्ञानिक व पूर्णत: काल्पनिक लगती थीं, किन्तु आज विज्ञान से प्रमाणित हो रही हैं। उदाहरण के रूप में प्रकाश, अन्धकार, ताप, छाया शब्द आदि पौद्गलिक हैं जैन आगमों की इस मान्यता पर कोई विश्वास नहीं करता था, किन्तु आज उनकी पौद्गलिकता सिद्ध हो चुकी है। जैन आगमों का यह कथन है कि शब्द न केवल पौद्गलिक है, अपितु वह ध्वनि रूप में उच्चरित होकर लोकान्त तक की यात्रा करता है, इस तथ्य को कल तक कोई भी स्वीकार नहीं करता था, किन्तु आधुनिक वैज्ञानिक खोजों ने अब इस तथ्य को सिद्ध कर दिया है कि प्रत्येक ध्वनि उच्चरित होने के बाद अपनी यात्रा प्रारम्भ कर देती है और उसकी यह यात्रा, चाहे अत्यन्त सूक्ष्म रूप में क्यों न हो, लोकान्त तक होती है। जैनों की यह अवधारणा कि अवधिज्ञानी चर्म-चक्षु के द्वारा गृहीत नहीं हो रहे दूरस्थ विषयों का सीधा प्रत्यक्षीकरण कर लेता है- कुछ वर्षों पूर्व तक कपोलकल्पना ही लगती थी, किन्तु आज जब टेलीविजन का आविष्कार हो चुका है, यह बात बहुत आश्चर्यजनक नहीं रही है। जिस प्रकार से ध्वनि की यात्रा होती है उसी प्रकार से प्रत्येक भौतिक पिण्ड से प्रकाश-किरणें परावर्तित होती हैं और वे भी ध्वनि के समान ही लोक में अपनी यात्रा करती हैं तथा प्रत्येक वस्तु या घटना का चित्र विश्व में संप्रेषित कर देती है। आज यदि मानव मस्तिष्क में टेलीविजन सेट की ही तरह चित्रों को ग्रहण करने का सामर्थ्य विकसित हो जाये, तो दूरस्थ पदार्थों एवं घटनाओं के हस्तामलकवत् ज्ञान में कोई बाधा नहीं रहेगी, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ से प्रकाश व छाया के रूप में जो किरणें परावर्तित हो रही हैं, वे तो हम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सबके पास पहुँच ही रही हैं। आज यदि हमारे चैतन्य मस्तिष्क की ग्रहण शक्ति विकसित हो जाय तो दूरस्थ विषयों का ज्ञान असम्भव नहीं है। इससे यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन धार्मिक कहे जाने वाले साहित्य में भी बहुत कुछ ऐसा है, जो या तो आज विज्ञान सम्मत सिद्ध हो चुका है अथवा जिसके विज्ञान सम्मत सिद्ध होने की सम्भावना अभी पूर्णत: निरस्त नहीं हुई है।

अनेक आगम वचन या सूत्र ऐसे हैं, जो कल तक अवैज्ञानिक प्रतीत होते थे, वे आज वैज्ञानिक सिद्ध हो रहे हैं। मात्र इतना नहीं, इन सूत्रों कीं वैज्ञानिक ज्ञान के प्रकाश में जो व्याख्या की गयी, वह अधिक समीचीन प्रतीत होती है। उदाहरण के रूप में परमाणुओं के पारस्परिक बन्धन से स्कन्ध के निर्माण की प्रक्रिया को समझाने हेतु तत्त्वार्थसूत्र के पाँचवें अध्याय का एक सूत्र है- स्निग्धरूक्षत्वात् बन्ध:। इसमें स्निग्ध और रुक्ष परमाणुओं के एक-दूसरे से जुड़कर स्कन्ध बनाने की बात कही गयी है। सामान्य रूप से इसकी व्याख्या यह कहकर ही की जाती थी कि स्निग्ध (चिकने) एवं रुक्ष (खुरदुरे) परमाणुओं में बन्ध होता है, किन्तु आज इस सूत्र की वैज्ञानिक दृष्टि से व्याख्या होगी तो स्निग्ध अर्थात् धनात्मक विद्युत् से आवेशित एवं रुक्ष अर्थात् ऋणात्मक विद्युत् से आवेशित सूक्ष्म-कण, जैन दर्शन की भाषा में परमाणु, परस्पर मिलकर स्कन्ध (Molecule) का निर्माण करते हैं। इस प्रकार तो तत्त्वार्थसूत्र का यह सूत्र अधिक विज्ञान सम्मत प्रतीत होता है। प्रो० जी० आर० जैन ने अपनी पुस्तक Cosmology Old and New में इस सम्बन्ध में विस्तार से विवेचन किया है और इस सूत्र की वैज्ञानिकता को सिद्ध किया है।

जहाँ तक भौतिक तत्त्व के अस्तित्व एवं स्वरूप का प्रश्न है वैज्ञानिकों एवं जैन आचार्यों में अधिक मतभेद नहीं है। परमाणु या पुद्गल कणों में जिस अनन्त शक्ति का निर्देश जैन आचार्यों ने किया था वह अब आधुनिक वैज्ञानिक अन्वेषणों से सिद्ध हो रहा है। आधुनिक वैज्ञानिक इस तथ्य को सिद्ध कर चुके हैं कि एक परमाणु का विस्फोट भी कितनी अधिक शक्ति का सृजन कर सकता है। वैसे भी भौतिक पिण्ड या पुद्गल की अवधारणा को लेकर वैज्ञानिकों एवं जैन विचारकों में कोई अधिक मतभेद नहीं देखा जाता। परमाणुओं के द्वारा स्कन्ध (Molecule) की रचना का जैन सिद्धान्त कितना वैज्ञानिक है, इसकी चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं। विज्ञान जिसे परमाणु कहता था, वह अब टूट चुका है। वास्तविकता तो यह है कि विज्ञान ने जिसे परमाणु मान लिया था, वह परमाणु था ही नहीं, वह तो स्कन्ध ही था। क्योंकि जैनों की परमाणु की परिभाषा यह है कि जिसका विभाजन नहीं हो सके, ऐसा भौतिक तत्त्व परमाणु है। इस प्रकार आज हम देखते हैं कि विज्ञान का तथाकथित परमाणु खण्डित हो चुका है, जबकि जैन दर्शन का परमाणु अभी वैज्ञानिकों की पकड़ में आ ही नहीं पाया है। वस्तुत: जैन दर्शन में जिसे परमाणु कहा जाता है, उसे आधुनिक वैज्ञानिकों ने क्वार्क नाम दिया है और वे आज भी उसकी खोज में लगे हुए हैं। समकालीन भौतिकीविदों की क्वार्क की परिभाषा यह है कि जो विश्व का सरलतम और अन्तिम घटक, है, वही क्वार्क है। आज भी क्वार्क को व्याख्यायित करने में वैज्ञानिक सफल नहीं हो पाये हैं।

आधुनिक विज्ञान प्राचीन जैन अवधारणाओं को सम्पुष्ट करने में किस प्रकार सहायक हुआ है कि उसका एक उदाहरण यह है कि जैन तत्त्व-मीमांसा में एक ओर यह अवधारणा रही है कि एक पुद्गल परमाणु जितनी जगह घेरता है- वह एक आकाश प्रदेश कहलाता है, दूसरे शब्दों में एक आकाश प्रदेश में एक परमाणु ही रह सकता है, किन्तु दूसरी ओर आगमों में यह भी उल्लेख है कि एक आकाश प्रदेश में अनन्त पुद्गल परमाणु समा सकते हैं। इस विरोधाभास का सीधा समाधान हमारे पास नहीं था। लेकिन विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि विश्व में कुछ ऐसे ठोस द्रव्य हैं जिनका एक वर्ग इंच का वजन लगभग ८ सौ टन होता है। इससे यह भी फलित होता है कि जिन्हें हम ठोस समझते हैं, वे वस्तुत: कितने पोले हैं। अत: सूक्ष्म अवगाहन शक्ति के कारण यह संभव है कि एक ही आकाश प्रदेश में अनन्त परमाणु भी समाहित हो जायें।

जैन दर्शन का परमाणुवाद आधुनिक विज्ञान के कितना निकट है। इसका विस्तृत विवरण श्री उत्तम चन्द जैन ने अपने लेख 'जैन दर्शन का तात्त्विक पक्ष परमाणुवाद' में दिया है। हम यहाँ उनके मन्तव्य का कुछ अंश आंशिक परिवर्तन के साथ उद्धृत कर रहे हैं-

जैन परमाणुवाद और आधुनिक विज्ञान

जैन दर्शन की परमाणुवाद पर आधारित निम्न घोषणाएं आधुनिक विज्ञान के परीक्षणों द्वारा सत्य साबित हो चुकी है-

१. परमाणुओं के विभिन्न प्रकार के यौगिक, उनका विखण्डन एवं संलयन, विसरण, उनकी बंध, शक्ति, स्थिति, प्रभाव, स्वभाव, संख्या आदि का अतिसूक्ष्म वैज्ञानिक विवेचन जैन ग्रन्थों में विस्तृत रूप में उपलब्ध है।

२. पानी स्वतंत्र तत्त्व नहीं अपितु पुद्गल की ही एक अवस्था है। यह वैज्ञानिक सत्य है कि जल यौगिक है।

३. शब्द आकाश का गुण नहीं अपितु भाषावर्गणा रूप स्कंधों का अवस्थान्तर है, इसलिए यंत्रग्राह्य है।

४. विश्व किसी के द्वारा निर्मित नहीं, क्योंकि सत् की उत्पत्ति या विनाश संभव नहीं। सत् का लक्षण ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त होना है। पुद्गल निर्मित विश्व मिथ्या एवं असत् नहीं है, सत् स्वरूप है।

५. प्रकाश-अंधकार तथा छाया ये पुद्गल की ही पृथक्-पृथक् पर्याय हैं। यंत्र ग्राह्य हैं। इनके स्वरूप की सिद्धि आधुनिक सिनेमा, फोटोग्राफी, केमरा, आदि द्वारा हो चुकी है।

६. आतप एवं उद्योत भी परमाणु एवं स्कंधों की ही पर्याय हैं, संग्रहणीय हैं।

७. जीव तथा पुद्गल के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र तक आने जाने में सहकारी अचेतन अमूर्तिक धर्म नामक द्रव्य है, जो सर्व जगत् में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याप्त है। विज्ञानवेत्ताओं ने उसे ईथर नाम दिया है।

९. जीव और पुद्गलों को गमन के उपरान्त 'ठहरने में अधर्म द्रव्य सहकारी है जिसे अमूर्त, अचेतन एवं विश्वव्यापी बताया गया है। वैज्ञानिकों ने इसे गुरुत्वाकर्षण शक्ति नाम दिया है।

१०. आकाश एक स्वतन्त्र द्रव्य है जो समस्त द्रव्यों को अवकाश प्रदान करता है। विज्ञान की भाषा में इसे 'स्पेस' कहते हैं।

११. काल भी एक भिन्न स्वतंत्र द्रव्य है जिसे मिन्कों ने 'फोर डाइमेन्शनल थ्योरी' के नाम से अभिहित करते हुए समय को काल द्रव्य की पर्याय माना है। (देखिये-सन्मति सन्देश, फरवरी, ६७, पृष्ठ २४; प्रो. निहालचन्द)

१२. वनस्पति एकेन्द्रिय जीव है, उसमें स्पर्श संबंधी ज्ञान होता है। स्पर्श ज्ञान के कारण ही 'लाजवन्ती' नामक पौधा स्पर्श करते ही झुक जाता है। वनस्पति में प्राण सिद्धि करने वाले प्रसिद्ध वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र बसु हैं। वनस्पति शास्त्र चेतनतत्त्व' को प्रोटोप्लाज्म नाम देता है।

१३. जैन दर्शन ने अनेकांत स्वरूप वस्तु के विवेचन की पद्धति 'स्याद्वाद' बताया, जिसे वैज्ञानिक आइंस्टीन ने सापेक्षवाद सिद्धांत के नाम से प्रसिद्ध किया है।

१४. जैन दर्शन एक लोकव्यापी महास्कंध के अस्तित्व को भी मानता है, जिसके निमित्त से तीर्थंकरों के जन्म आदि की खबर जगत् में सर्वत्र फैल जाती है, इस तथ्य को आज टेलीपैथी के रूप में मान्य है।

१५. पुद्गल को शक्ति रूप में परिवर्तित किया जा सकता है परन्तु मैटर और उसेकी शक्ति को अलग नहीं किया जा सकता।

१६. इंद्रिय, शरीर, भाषा आदि ६ प्रकार की पर्याप्तियों का वर्णन आधुनिक जीवनशास्त्र में कोशिकाओं और तन्तुओं के रूप में है।

१७. जीव विज्ञान तथा वनस्पति विज्ञान का जैन वर्गीकरण-आधुनिक जीवशास्त्र तथा वनस्पतिशास्त्र द्वारा आंशिक रूप में स्वीकृत हो चुका है।

१८. तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित सूर्य, तारा, नक्षत्र आदि की आयु प्रकार, अवस्थाएं आदि का सूक्ष्म वर्णन आधुनिक सौर्य जगत् के अध्ययन से आंशिक रूप में प्रमाणित होता है। यद्यपि कुछ अन्तर भी है।

प्रयोग से प्राप्त सत्य की तरह चिन्तन से प्राप्त सत्य स्थूल आकार में सामने नहीं आता, अत: साधारणतया जनता की श्रद्धा को अपनी ओर आकृष्ट करना विज्ञान के लिए जितना सहज है, दर्शन के लिए उतना नहीं। इतना होने पर भी दोनों कितने नजदीक हैं-यह देखकर आश्चर्य चकित होना पड़ता है'।

श्री उत्तम चन्द जैन की उपरोक्त तुलना का निष्कर्ष यही है कि जैन दर्शन का परमाणुवाद आज विज्ञान के अति निकट है। आज आवश्यकता है हम अपनी आगमिक मान्यताओं का वैज्ञानिक विश्लेषण कर उनकी सत्यता का परीक्षण करें।

शब्द की वाच्य शक्ति

आत्माभिव्यक्ति प्राणीय प्रकृति

प्रत्येक प्राणी की यह सहज एवं स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह अपनी अनुभूति एवं भावनाओं को दूसरे प्राणियों के सम्मुख प्रकट करता है और इस प्रकार दूसरों को भी अपने ज्ञान, अनुभूति और भावना का सहभागी बनाता हैं। प्राणी ही इसी पारस्परिक सहभागिता की प्रवृत्ति को उमास्वाति ने तत्वार्थ-सूत्र (५/२१) में 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'' नामक सूत्र के द्वारा स्पष्ट किया है। वस्तुत: यह पारस्परिक सहभागिता की प्रवृत्ति ही सामाजिक जीवन की आधार-भूमि है। हम सामाजिक हैं क्योंकि हम अपनी अनुभूतियों एवं भावनाओं में दूसरों को सहभागी बनाए बिना अथवा दूसरों की भावनाओं एवं अनुभूतियों में सहभागी बने बिना नहीं रह सकते। यदि किसी व्यक्ति को ऐसे स्थान पर बन्दी बना दिया जाए, जहां उसे जीवन जीने की सारी सुख-सुविधाएं तो उपलब्ध हों, किन्तु वह अपनी अनुभूतियों एवं भावनाओं को अभिव्यक्ति न दे सके, निश्चय ही ऐसे व्यक्ति को जीवन निस्सार लगने लगेगा और संभव है कि वह कुछ समय पश्चात् पागल होकर आत्महत्या कर ले। मनुष्य ही क्या, पशु-पक्षी भी बिना आत्माभिव्यक्ति के नहीं जी सकते हैं। संक्षेप में आत्माभिव्यक्ति के माध्यम से दूसरों को अपनी अनुभूति और भावनाओं का सहभागी बनाना और दूसरों की अभिव्यक्तियों के अर्थ को समझकर उनकी अनुभूति और भावनाओं में सहभागी बनना यह प्राणीय प्रकृति है। अब मूल प्रश्न यह है कि यह अनुभूति और भावनाओं का सम्प्रेषण कैसे होता है?

आत्माभिव्यक्ति के साधन

विश्व के समस्त प्राणी अपनी भावनाओं एवं अनुभूतियों की अभिव्यक्ति या तो शारीरिक संकेतों के माध्यम से करते हैं या ध्वनि संकेतों के द्वारा इन ध्वनि-संकेतों के आधार पर ही बोलियों एवं भाषाओं का विकास हुआ है। विश्व के समस्त प्राणियों में मनुष्य इसी लिए सबसे अधिक सौभाग्यशाली है कि उसे अभिव्यक्ति या विचार-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्प्रेषण के लिए भाषा मिली हुई है। शब्द प्रतीकों, जो कि सार्थक ध्वनि संकेतों के सुव्यवस्थित रूप हैं, के माध्यम से अपने विचारों एवं भावों के अभिव्यक्ति दे पाना यही उसकी विशिष्टता है। क्योंकि भाषा के माध्यम से मनुष्य जितनी स्पष्टता के साथ अपने विचारों एवं भावों का सम्प्रेषण कर सकता है, उतनी स्पष्टता से विश्व का दूसरा कोई प्राणी नहीं। उदाहरण के लिए कोई भी व्यक्ति मात्र ध्वनि-संकेत या अंग-संकेत से किसी वस्तु की स्वादानुभूति की अभिव्यक्ति उतनी स्पष्टता से नहीं कर सकता है, जितनी भाषा के माध्यम से कर सकता है। यद्यपि भाषा या शब्द-प्रतीकों के माध्यम से की गई यह अभिव्यक्ति अपूर्ण, आंशिक एवं मात्र संकेत ही होती है, फिर भी अभिव्यक्ति का इससे अधिक स्पष्ट कोई माध्यम खोजा नहीं जा सकता है।

भाषा का स्वरूप

हमने व्यक्तियों, वस्तुओं, तथ्यों, घटनाओं, क्रियाओं एवं भावनाओं के कुछ शब्द प्रतीक बना लिए हैं और भाषा हमारे इन शब्द-प्रतीकों का ही एक सुनियोजित खेल है। संक्षेप में कहें तो हमने उन्हें "नाम" दे दिया है और इन्हीं नामों के माध्यमों से हम अपने भावों, विचारों एवं तथ्य संबंधी जानकारियों का सम्प्रेषण दूसरों तक करते हैं। उदाहरण के लिए हम कुर्सी शब्द से एक विशिष्ट वस्तु को अथवा "प्रेम" शब्द से एक विशिष्ट भावना को संकेतित करते हैं। मात्र यही नहीं, व्यक्तियों, वस्तुओं, गुणों, तथ्यों, घटनाओं, क्रियाओं एवं भावनाओं के पारस्परिक विभिन्न प्रकार के संबंधों के लिए अथवा उन संबंधों के अभाव के लिए भी शब्द प्रतीक बना लिए गए हैं। भाषा की रचना इन्हीं सार्थक शब्द प्रतीकों के ताने-बाने से हुई है। भाषा शब्द-प्रतीकों की वह नियमबद्ध व्यवस्था है, जो वक्ता के द्वारा सम्प्रेषणीय भावों का ज्ञान श्रोता को कराती है।

शब्द एवं भाषा की अभिव्यक्ति सामर्थ्य

यहाँ दार्शनिक प्रश्न यह है कि क्या इन शब्द-प्रतीकों में भी अपने विषय या अर्थ की अभिव्यक्ति करने की सामर्थ्य है? क्या कुर्सी शब्द कुर्सी नामक वस्तु को और प्रेम शब्द प्रेम नामक भावना को अपनी समग्रता के साथ प्रस्तुत कर सकता है? यह ठीक है कि शब्द अपने अर्थ या विषय का वाचक अथवा संकेतक है, किन्तु क्या कोई भी शब्द अपने वाच्य विषय को पूर्णतया अभिव्यक्त करने में सक्षम है? क्या शब्द अपने विषय के समस्त गुण-धर्मों और पर्यायों (अवस्थाओं) का एक समग्र चित्र प्रस्तुत कर सकता है? वस्तुत: इस प्रश्न का उत्तर कठिन है। यदि हम यह मानते हैं कि शब्द अपने अर्थ या विषय का वाचक नहीं है तो फिर भाषा की प्रामाणिकता या उपयोगिता संदेहात्मक बन जाती हैं किन्तु इसके विपरीत यह मानना भी पूर्णतया सही नहीं है कि शब्द अपने अर्थ या विषय का सम्पूर्णता के साथ निर्वचन करने में समर्थ है और अपने वाच्य का यथार्थ चित्र श्रोता के सम्मुख प्रस्तुत कर देता है। जैन-आचार्यों ने शब्द और उसके अर्थ एवं विषय के संबंध को लेकर एक मध्यवर्गीय दृष्टिकोण अपनाया है। वे बौद्धों के समान यह मानने के लिए सहमत नहीं हैं कि शब्द अपने अर्थ या विषय का संस्पर्श ही नहीं करता है। किन्तु वे मीमांसकों के समान यह भी नहीं मानना चाहते हैं कि शब्द अपने विषय का समग्र चित्र प्रस्तुत कर सकता है। जैन दार्शनिकों के अनुसार शब्द और उसके द्वारा संकेतित अर्थ या विषय में एक सम्बन्ध तो है, किन्तु वह संबंध ऐसा नहीं है कि शब्द अपने विषय या अर्थ का स्थान ही ले ले। दूसरे शब्दों में शब्द और उनके विषयों में तद्रूपता का सम्बन्ध नहीं है। प्रभाचन्द्र शब्द और अर्थ में तद्रूप संबंध का खण्डन करते हुए कहते हैं कि मोदक शब्द के उच्चारण से मीठे स्वाद की अनुभूति नहीं होती है, अत: मोदक शब्द और मोदक नामक वस्तु-दोनों भिन्न-भिन्न हैं। (न्यायकुमुदचन्द्र, भाग२, पृ० ५३६) किन्तु इससे यह भी नहीं समझ लेना चाहिए कि शब्द और उनके विषय अर्थ के बीच कोई संबंध ही नहीं है। शब्द अर्थ या विषय का संकेतक तो है, किन्तु उसका स्थान नहीं ले सकता है। अर्थ बोध की प्रक्रिया में शब्द को अपने अर्थ या विषय का प्रतिनिधि (रिप्रेजेन्टेटिव) तो कहा जा सकता है, फिर भी शब्द अपने विषय या अर्थ का हूबहू चित्र नहीं है, जैसे नक्शे में प्रदर्शित नदी वास्तविक नदी की संकेतक तो है, किन्तु न तो वह वास्तविक नदी है और उसका हूबहू प्रतिबिंब ही है, वैसे ही शब्द और उनसे निर्मित भाषा भी अपने अर्थ या विषय की संकेतक तो है, किन्तु उसका हूबहू प्रतिबिंब नहीं हैं। फिर भी वह अपने विषय का एक चित्र श्रोता या पाठक के सम्मुख अवश्य प्रस्तुत कर देता है। जिस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय में ज्ञापक और ज्ञाप्य संबंध है, उसी प्रकार शब्द और अर्थ (विषय) में प्रतिपादक और प्रतिपाद्य संबंध है। यद्यपि जैन दार्शनिक शब्द और उसके अर्थ में सम्बन्ध स्वीकार करते हैं, किन्तु यह मीमांसकों के समान नित्य सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि भाषा के प्रचलन में अनेक बार शब्दों के अर्थ (मीनिंग) बदलते रहे हैं और एक समान उच्चारण के शब्द भी दो भिन्न भाषाओं में भिन्न अर्थ रखते हैं। शब्द अपने अर्थ का संकेतक अवश्य है, किन्तु अपने अर्थ के साथ उसका नित्य तथा तद्रूप संबंध नहीं है। जैन दार्शनिक मीमांसकों के समान शब्द और अर्थ में नित्य तथा तद्रूप सम्बन्ध स्वीकार नहीं करते हैं। उनकी मान्यता है कि जिस प्रकार हस्त संकेत आदि अपने अभिव्यंजनीय अर्थ के साथ अनित्य रूप से संबंधित होकर इष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति कर देते हैं, उसी प्रकार शब्द संकेत भी अपने अर्थ से अनित्य रूप से संबंधित होकर भी अर्थबोध करा देते हैं। शब्द और अर्थ (विषय) दोनों की विविक्त सत्ताएं हैं। अर्थ में शब्द नहीं है और न अर्थ शब्दात्मक ही है। फिर भी दोनों में एक ऐसा संबंध अवश्य है, जिससे शब्दों में अपने अर्थ के वाचक होने की सीमित सामर्थ्य है। शब्द में अपने अर्थ या विषय का बोध कराने की एक सहज शक्ति होती है, जो उसकी संकेत शक्ति और प्रयोग पर निर्भर करती है।

इस प्रकार शब्द सहज-योग्यता, संकेतक-शक्ति और प्रयोग इन तीन के आधार पर अपने अर्थ या विषय से संबंधित होकर श्रोता को अर्थबोध करा देता है। जैन-आचार्यों को बौद्धों का यह सिद्धान्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मान्य नहीं है कि शब्द और अर्थ में कोई सम्बन्ध ही नहीं है, उनका कथन है कि यदि शब्द का अपने अर्थ के साथ में कोई सम्बन्ध ही नहीं माना जायेगा तो समस्त भाषा-व्यवहार की प्रामाणिकता ही समाप्त हो जाएगी और पारस्परिक अभिव्यक्ति का कोई साधन ही नहीं रहेगा। इसीलिए जैन दार्शनिकों ने शब्द और अर्थ में सापेक्ष एवं सीमित वाच्य-वाचक सम्बन्ध माना है। शब्द अपने विषय का वाचक तो होता है, किन्तु उसकी समस्त विशेषताओं का सम्पूर्णता के साथ निर्वचन करने में समर्थ नहीं है। शब्दों में अर्थ (विषय) की अभिव्यक्ति की सामर्थ्य सीमित और सापेक्ष ही है, असीमित या पूर्ण और निरपेक्ष नहीं। ''प्रेम'' शब्द प्रेम नामक भावना को अभिव्यक्ति तो देता है, किन्तु उसमें प्रेम की अनुभूति की सभी गहराइयां समाविष्ट नहीं हैं। प्रेम के विविध रूप हैं। प्रेम-अनुभूति की प्रगाढ़ता के अनेक स्तर हैं। अकेला प्रेम शब्द उन सबका वाचक तो नहीं हो सकता। एक प्रेमी अपनी प्रेयसी से, एक पुत्र अपनी माता से, एक भाई अपने भाई से, एक मित्र अपने मित्र से ''मैं तुमसे प्रेम करता हूँ'' इस पदावली का कथन करते हैं, किन्तु क्या उन सभी व्यक्तियों के संदर्भ में इस पदावली का एक ही अर्थ होगा? वे सब समान पदावली का उपयोग करते हुए भी जिस भाव-प्रवणता की अभिव्यक्ति कर रहे हैं, वह भिन्न-भिन्न ही है। दो भिन्न संदर्भों में और दो भिन्न व्यक्तियों के लिए एक ही संदर्भ में एक शब्द का एक ही अर्थ नहीं हो सकता है। मात्र यही नहीं, एक ही पदावली के संदर्भ में वक्ता और श्रोता दोनों की भाव-प्रवणता और अर्थ-ग्राहकता भिन्न-भिन्न भी हो सकती है। अर्थ बोध न केवल शब्द-सामर्थ्य पर निर्भर है, अपितु श्रोता की योग्यता पर भी निर्भर है वस्तुतः अर्थबोध के लिए पहले शब्द और उसके अर्थ (विषय) में एक संबंध जोड़ लिया जाता है। बालक को जब भाषा सिखाई जाती है तो शब्द के उच्चारण के साथ उसे वस्तु को दिखाते हैं। धीरे-धीरे बालक उनमें सम्बन्ध जोड़ लेता है और जब भी उस शब्द को सुनता है या पढ़ता है तो उसे उस अर्थ (विषय) का बोध हो जाता है, अतः अपने विषय का अर्थ बोध करा देने की शक्ति भी मात्र शब्द में नहीं, अपितु श्रोता या पाठक के पूर्व संस्कारों में भी रही हुई है अर्थात् वह श्रोता या पाठक की योग्यता पर भी निर्भर है। यही कारण है कि अनसीखी भाषा के शब्द हमें कोई अर्थ बोध नहीं दे पाते हैं। इसीलिए जैन दार्शनिक मीमांसा दर्शन के शब्द में स्वतः अर्थबोध देने की सामर्थ्य का खण्डन करते हैं। अनेक प्रसंगों में वक्ता का आशय कुछ और होता है और श्रोता उसे कुछ और समझ लेता है, अतः यह मानना होगा कि शब्द और अर्थ में वाचक-वाच्य सम्बन्ध होते हुए भी वह सम्बन्ध श्रोता या पाठक सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं। अन्यथा दो व्यक्तियों के द्वारा एक ही पदावली का भिन्न-भिन्न रूप में अर्थ ग्रहण करना कभी संभव ही नहीं होता।

दूसरी बात यह है कि अपने विषय का वाचक होने की शक्ति भी सीमित ही है। शब्द शक्ति की सीमितता का कारण यह है कि अनुभूतियों की एवं भावनाओं की जितनी विविधताएं हैं, उतने शब्द नहीं हैं। अपने वाच्य विषयों की अपेक्षा शब्द संख्या और शब्द शक्ति दोनों ही सीमित हैं। उदाहरण के लिए मीठा शब्द को लीजिए। हम कहते हैं गन्ना मीठा है, गुड़ मीठा है, आम मीठा है, रसगुल्ला मीठा है, तरबूज मीठा है आदि-आदि। यहां सभी के मीठेपन की अनुभूति के लिए एक ही शब्द ''मीठा'' प्रयोग कर रहे हैं, किन्तु हम यह बहुत ही स्पष्ट रूप से जानते हैं कि सबके मीठेपन का स्वाद एक समान नहीं है। तरबूज मीठा है और आम मीठा है, इन दोनों कथनों में ''मीठा'' नामक गुण एक ही प्रकार की अनुभूति का द्योतक नहीं है। यद्यपि पशुओं के ध्वनि-संकेत और शारीरिक संकेत की अपेक्षा मनुष्य के शब्द-संकेतों में भावाभिव्यक्ति एवं विषयाभिव्यक्ति की सामर्थ्य काफी व्यापक है, किन्तु उसकी भी अपनी सीमाएं हैं। भाषा की और शब्द संकेत की इन सीमाओं पर दृष्टिपात करना अति आवश्यक है। क्योंकि विश्व में वस्तुओं, तथ्यों एवं भावनाओं की जो अनन्तता है उसकी अपेक्षा हमारा शब्द-भण्डार अत्यन्त सीमित हैं। एक ''लाल'' शब्द को ही लीजिए। वह लाल नामक रंग का वाचक है, किन्तु लालिमा की अनेक कोटियां हैं, अनेक अंश (डिग्रीज) हैं, अनेक संयोग (कोम्बिनेशन) हैं। क्या एक ही ''लाल'' शब्द भिन्न प्रकार की लालिमाओं का वाचक हो सकता है। एक और उदाहरण लीजिए-एक व्यक्ति जिसने गुड़ के स्वाद का अनुभव किया है, उस व्यक्ति से जिसनें कभी गुड़ के स्वाद का अनुभव नहीं किया हैं, जब यह कहता है कि गुड़ मीठा होता है तो क्या श्रोता उससे मीठेपन की उसी अनुभूति को ग्रहण करेगा जिसे वक्ता ने अभिव्यक्त किया हैं। गुड़ की मिठास की एक अपनी विशिष्टता है उस विशिष्टता का ग्रहण किसी दूसरे व्यक्ति को तब तक ठीक वैसा ही नहीं हो सकता है, जब तक कि उसने स्वयं गुड़ के स्वाद की अनुभूति नहीं की हो। क्यों कि शब्द सामान्य होता है, सत्ता विशेष होती है। सामान्य विशेष का संकेतक हो सकता है, लेकिन उसका समग्र निर्वचन नहीं कर सकता है। शब्द अपने अर्थ (विषय) को मात्र सूचित करता है, शब्द और उसके विषय में तद्रूपता नहीं है, शब्द को अर्थ (मिनिंग) दिया जाता है। इसीलिए बौद्धों ने शब्द को विकल्पयोनि (विकल्पयोनयः शब्दाः;न्यायकुमुदचन्द्र,पृ० ५३७) कहा है। शब्द अपने अर्थ या विषय का वाचक होते हुए भी उसमें और उसके विषय में कोई समानता नहीं है। यहां तक कि उसे अपने विषय का सम्पूर्ण एवं यथार्थ चित्र नहीं कहा जा सकता। यद्यपि शब्द में श्रोता की चेतना में शब्द और अर्थ के पूर्व संयोजन के आधार पर अपने अर्थ (विषय) का चित्र उपस्थित करने की सामर्थ्य तो होती है, किन्तु यह सामर्थ्य भी श्रोता सापेक्ष है।

सत्ता कितनी वाच्य कितनी अवाच्य ?

इस प्रकार भाषा या शब्द-संकेत अपने विषयों के अपने अर्थों के संकेतक तो अवश्य हैं, किन्तु उनकी अपनी सीमाएं भी हैं। इसीलिए सत्ता या वस्तु-तत्त्व किसी सीमा तक वाच्य होते हुए भी अवाच्य बना रहता है। वस्तुतः जब जीवन की सामान्य अनुभूतियों और भावनाओं को शब्दों एवं भाषा के द्वारा पूरी तरह से अभिव्यक्त नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया जा सकता है तो फिर परम सत्ता के निर्वचन का प्रश्न तो और भी जटिल हो जाता है। भारतीय चिन्तन में प्रारंभ से लेकर आज तक सत्ता की वाच्यता का यह प्रश्न मानव-मस्तिष्क को झकझोरता रहा है। वस्तुतः सत्ता की अवाच्यता का कारण शब्द भण्डार तथा शब्द शक्ति की सीमितता और भाषा का अस्ति और नास्ति की सीमाओं से घिरा होना है। इसीलिए प्राचीनकाल से ही सत्ता की अवाच्यता का स्वर मुखर होता रहा है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है कि यतो वाचो निवर्तन्ते (२/४)- वाणी वहां से लौट आती है, उसे वाणी का विषय नहीं बनाया जा सकता है। इसी बात को केनोपनिषद् में "यद्वाचावभ्युदितम्" (१/४) के रूप में कहा गया है। कठोपनिषद् में "नेव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यम्" कह कर यह बताया गया है कि परम सत्ता का ग्रहण वाणी और मन के द्वारा संभव नहीं है। माण्डूक्योपनिषद् में सत्ता को अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य और अवाच्य कहा गया है। जैन-आगम आचारांग का भी कथन है कि "वह (सत्ता) ध्वन्यात्मक किसी भी शब्द की प्रवृत्ति का विषय नहीं है, वाणी उसका निर्वचन करने में कथमपि समर्थ नहीं है। वहां वाणी मूक हो जाती है तर्क की वहां तक पहुंच नहीं है, वह बुद्धि का विषय नहीं है। किसी भी उपमा के द्वारा उसे समझाया नहीं जा सकता है अर्थात् उसकी कोई उपमा नहीं दी जा सकती है। वह अनुपम, अरूपी सत्ता है। उस अपद का कोई पद नहीं है, अर्थात् ऐसा कोई शब्द नहीं है, जिस के द्वारा उसका निरूपण किया जा सके" (आचारांग १/५/६)।

उपर्युक्त सभी कथन भाषा की सीमितता और अपर्याप्तता को तथा सत्ता की अवाच्यता या अवक्तव्यता को ही सूचित करते हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या तत्त्व या सत्ता को किसी भी प्रकार वाणी का विषय नहीं बनाया जा सकता है? यदि ऐसा है तो सारा वाक् व्यवहार निरर्थक होगा। श्रुतज्ञान अर्थात् शास्त्र और आगम व्यर्थ हो जायेंगे। यही कारण था कि जैन चिन्तकों ने सत्ता या तत्त्व को समग्रतः (एज ए होल) अवाच्य या अवक्तव्य मानते हुए भी अंशतः या सापेक्षतः वाच्य माना। क्योंकि उसे अवक्तव्य या वाच्य कहना भी तो एक प्रकार का वचन या वाक् व्यवहार ही है, यहां हमारा वाच्य यह है कि वह अवाच्य है। अतः हमें व्यवहार के स्तर पर उतर कर सत्ता की वक्तव्यता या वाच्यता को स्वीकार करना होगा। क्योंकि इसी आधार पर श्रुतज्ञान एवं आगमों की प्रामाणिकता स्वीकार की जा सकती है।

जैन-आचार्यों ने दूसरों के द्वारा किए गए संकेतों के आधार पर होने वाले ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा है। संक्षेप में समस्त आनुभविक ज्ञान, मतिज्ञान और सांकेतिक ज्ञान श्रुतज्ञान हैं, श्रुतज्ञान की परिभाषा है- जिस ज्ञान में संकेत-स्मरण है और जो संकेतों के नियत अर्थ को समझने में समर्थ है, वही श्रुतज्ञान है। दूसरे शब्दों में जो ज्ञान संकेत और वचन श्रवण के द्वारा होता है वह श्रुतज्ञान है (विशेषावश्यकभाष्य, १२० एवं १२१)। सामान्यतया श्रुतज्ञान का मुख्य आधार शब्द है, किन्तु हस्तसंकेत आदि अन्य साधनों से होने वाला ज्ञान भी श्रुतज्ञान कहलाता है, क्योंकि श्रुतज्ञान के दो भेद प्रसिद्ध हैं- अक्षर-श्रुत और अनक्षर-श्रुत। अक्षरश्रुत के तीन भेद हैं- संज्ञाक्षर, व्यंजनाक्षर और लब्ध्यक्षर। वर्ण का ध्वनि संकेत अर्थात् शब्द-ध्वनि व्यंजनाक्षर है। वर्ण का आकारिक संकेत अर्थात् लिपि संकेत संज्ञाक्षर है। लिपि संकेत और शब्द-ध्वनि संकेत के द्वारा अर्थ को समझने की सामर्थ्य लब्ध्यक्षर है। शब्द या भाषा के बिना मात्र वस्तु संकेत, अंग संकेत अथवा ध्वनि संकेत द्वारा जो ज्ञान होता है वह अनक्षर श्रुत है। इसमें हस्त आदि शरीर के संकेतों, झण्डी आदि वस्तु संकेतों तथा खांसना आदि ध्वनि-संकेतों के द्वारा अपने भावों एवं अनुभूतियों को अभिव्यक्त किया जाता है। संक्षेप में वे सभी सांकेतिक सूचनाएं जो किसी व्यक्ति के ज्ञान, भाव या विचार को सार्थक रूप से प्रकट कर देती हैं और जिसके द्वारा पर (दूसरा) व्यक्ति उनके लक्षित अर्थ का ग्रहण कर लेता है, श्रुतज्ञान है। चूंकि श्रुतज्ञान प्रमाण है, अतः मानना होगा कि शब्द संकेत या भाषा अपने विषय या अर्थ का प्रामाणिक ज्ञान देने में समर्थ है। दूसरे शब्दों में सत् या वस्तु वाच्य भी है। इस प्रकार जैन-दर्शन में सत्ता या वस्तु तत्त्व को अंशतः वाच्य या वक्तव्य और समग्रतः अवाच्य या अवक्तव्य कहा गया है। यहां यह विचार कर लेना भी आवश्यक है कि इस अवक्तव्यता का भी क्या अर्थ है?

अवक्तव्य का अर्थ

डॉ० पद्मराजे ने अवक्तव्य के अर्थ के विकास की दृष्टि से चार अवस्थाओं का निर्देश किया है-

(१) पहला वेदकालीन निषेधात्मक दृष्टिकोण, जिसमें विश्व-कारण की खोज करते हुए ऋषि इस कारण तत्त्व को न सत् और न असत् कहकर विवेचित करता है यहां दोनों पक्षों का निषेध है। यहां सत्ता की अस्ति (सत्) और नास्ति (असत्) रूप से वाच्यता का निषेध किया गया है।

(२) दूसरा औपनिषदिक दृष्टिकोण, जिसमें सत्-असत् आदि विरोधी तत्त्वों में समन्वय देखा जाता है। जैसे- "तदेजति तन्नेजति" "अणोरणीयान् महतो महीयान", सदसद्वरेण्यम्" आदि। यहां दोनों पक्षों की स्वीकृति है। यहां सत्ता को दो विरुद्ध धर्मों से युक्त मानकर उसे अस्ति (है) और नास्ति (नहीं है) रूप भाषा से अवाच्य कहा गया है।

(३) तीसरा दृष्टिकोण जिसमें तत्त्व को स्वरूपतः अव्यपदेश्य या अनिवर्चनीय माना गया है, यह दृष्टिकोण भी उपनिषदों में ही मिलता है। जैसे- "यतो वाचो निवर्तन्ते", यद्वाचाभ्युदित्य, नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यः आदि। बुद्ध के अव्याकृतवाद एवं शून्यवाद की चतुष्कोटि विनिर्मुक्त तत्त्व की अवधारणा में भी बहुत कुछ इसी दृष्टिकोण का प्रभाव देखा जा सकता है।

(४) चौथा दृष्टिकोण जैन-न्याय में सापेक्षित अवक्तव्यता या सापेक्षित अनिर्वचनीयता के रूप में विकसित हुआ है जिसमें सत्ता को अंशतः वाच्य और समग्रतः अवाच्य कहा गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामान्यतया अवक्तव्य के निम्न अर्थ हो सकते हैं-

(१) सत् व असत् दोनों रूप से सत्ता की वाच्यता का निषेध करना।

(२) सत्, असत् और सदसत तीनों रूपों से सत्ता की वाच्यता का निषेध करना।

(३) सत्, असत्, सत्-असत् (उभय) और न सत्- न असत् (अनुभय) चारों रूप से सत्ता की वाच्यता का निषेध करना।

(४) वस्तुतत्त्व को स्वभाव से ही अवक्तव्य या वाच्य मानना। अर्थात् यह कि वस्तुतत्त्व अनुभाव में तो आ सकता है, किन्तु कहा नहीं जा सकता। क्योंकि वह अनुभवगम्य है, शब्दगम्य नहीं।

(५) सत् और असत् दोनों को युगपद् रूप से स्वीकार करना, किन्तु उसके कथन के लिए कोई शब्द न होने के कारण अवक्तव्य कहना।

(६) वस्तुतत्त्व अनन्त धर्मात्मक है अर्थात् वस्तुतत्त्व के धर्मो की संख्या अनन्त है, किन्तु शब्दों की संख्या सीमित है और इसलिए उसमें जितने धर्म हैं, उतने वाचक शब्द नहीं है। अत: वाचक शब्दों के अभाव के कारण उसे अंशत: वाच्य और अंशत: अवाच्य मानना।

यहां यह प्रश्न विचारणीय हो सकता है कि जैन-परंपरा में इस अवक्तव्यता के कौन से अर्थ मान्य रहे हैं। सामान्यतया जैन परंपरा में अवक्तव्यता के प्रथम तीनों निषेधात्मक अर्थ मान्य नहीं रहे हैं। उसका मान्य अर्थ यही है कि सत् और असत् दोनों का युगपद् विवेचन नहीं किया जा सकता है, इसलिए वस्तुतत्त्व अवक्तव्य है, किन्तु यदि हम प्राचीन जैन-आगमों को देखें तो अवक्तव्यता का यह अर्थ अंतिम नहीं कहा जा सकता है। "आचारांगसूत्र" में आत्मा के स्वरूप को वचनागोचर कहा गया है। उस अपद का कोई पद नहीं है, अर्थात् ऐसा कोई पद नहीं है, जिसके द्वारा उसका निरूपण किया जा सके। इसे देखते हुए यह मानना पड़ेगा कि वस्तुस्वरूप ही कुछ ऐसा है कि उसे वाणी का माध्यम नहीं बनाया जा सकता है। पुन: वस्तुतत्त्व को अनन्तधर्मात्मकता और शब्द- संख्या की सीमितता के आधार पर भी वस्तुतत्त्व को अवक्तव्य माना गया है, आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार में अनभिलाप्यभाव का उल्लेख किया है। वे लिखते हैं कि अनुभव में आये वक्तव्य भावों के अनन्तवें भाग का ही कथन किया जा सकता है। अत: यह मान लेना उचित नहीं है कि जैन परंपरा में अवक्तव्यता का केवल एक ही अर्थ मान्य है।

इस प्रकार जैनदर्शन में अवक्तव्यता के चौथे, पाँचवें और छठे अर्थ मान्य रहे हैं। हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि सापेक्ष अवक्तव्यता और निरपेक्ष अवक्तव्यता में जैन दृष्टि सापेक्ष अवक्तव्यता को स्वीकार करती है, निरपेक्ष को नहीं। वह यह मानती है कि वस्तुतत्त्व पूर्णतया वक्तव्य या वाच्य तो नहीं है, किन्तु वह पूर्णतया अवक्तव्य या अवाच्य भी नहीं है। यदि हम वस्तुतत्त्व को पूर्णतया अवाच्य अर्थात् अनिर्वचनीय मान लेंगे तो फिर भाषा एवं विचारों के आदान-प्रदान का कोई रास्ता ही नहीं रह जायेगा। अत: जैन दृष्टिकोण वस्तुतत्त्व की अनिवर्चनीयता या अवाच्यता को स्वीकार करते हुए भी यह मानता है कि सापेक्ष रूप से वह निर्वचनीय या वाच्य भी है। सत्ता अंशत: निर्वचनीय है और अंशत: अनिर्वचनीय। क्योंकि यही बात उसके सापेक्षवादी दृष्टिकोण और स्याद्वाद सिद्धांत के अनुकूल है। इस प्रकार अवक्तव्यता के पूर्व निर्दिष्ट छह अर्थों में से पहले तीन को छोड़कर अन्तिम तीनों को मानने में उसे कोई बाधा नहीं आती है।

जैनदर्शन में सप्तभंगी की योजना में एक भंग अवक्तव्य भी है। सप्तभंगी में दो प्रकार के भंग हैं- एक मौलिक और दूसरे संयोगिक। मौलिक भंग तीन हैं- स्याद् अस्ति, स्याद् नास्ति और स्याद् अवक्तव्य। शेष चार भंग संयोगिक हैं, जो इन तीन मौलिक भंगों के संयोग से बने हुए हैं। प्रस्तुत निबंध का उद्देश्य जैन दर्शन में अवक्तव्य या अवाच्य के अर्थ को स्पष्ट करना था। हमने देखा कि सामान्यतया जैन दार्शनिकों की अवधारणा यह है कि वस्तु में एक ही समय में रहे हुए सत्-असत्, नित्य-अनित्य, एक-अनेक आदि विरुद्ध धर्मों का युगपद् रूप से अर्थात् एक ही साथ प्रतिपादन करना भाषायी सीमाओं के कारण अशक्य है, क्योंकि ऐसा कोई भी क्रियापद नहीं है, जो एक ही कथन में एक साथ विधान या निषेध दोनों कर सके। अत: परस्पर विरुद्ध और भावात्मक एवं अभावात्मक धर्मों की एक ही कथन में अभिव्यक्ति की भाषायी असमर्थता को स्पष्ट करने के लिए ही अवक्तव्य भंग की योजना की गई। किन्तु जैन-परंपरा में अवक्तव्य का यही एक मात्र अर्थ नहीं रहा है।

मेरी दृष्टि में अवक्तव्य या अवाच्यता का भी एक ही रूप नहीं है, प्रथम तो "है" और "नहीं है" ऐसे विधि-प्रतिषेध का युगपद् (एक ही साथ) प्रतिपादन संभव नहीं है, अत: उसे अवक्तव्य कहा गया है। दूसरे निरपेक्ष रूप से वस्तुतत्त्व का कथन संभव नहीं है, अत: वस्तुतत्त्व अवक्तव्य है। तीसरे अपेक्षाएं अनन्त हो सकती हैं, किन्तु अनन्त अपेक्षाओं से युगपद् रूप में वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन संभव नहीं है, इसलिए भी उसे अवक्तव्य या अवाच्य मानना होगा। चौथे वस्तु में अनन्त विशेष गुण-धर्म हैं, किन्तु भाषा में प्रत्येक गुण-धर्म के वाचक शब्द नहीं हैं, इसलिए वस्तु तत्त्व अवाच्य है। पांचवें वस्तु और उसके गुणधर्म "विशेष" होते हैं और शब्द सामान्य हैं और सामान्य शब्द, विशेष की उस विशिष्टता का समग्रत: वाचक नहीं हो सकता है। इस प्रकार "सत्ता" निरपेक्ष एवं समग्र रूप से अवाच्य होते हुए भी सापेक्षत: एवं अंशत: वाच्य भी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org